

दलित आत्मकथात्मक साहित्य में अभिव्यक्त अस्मिता का संघर्ष

नूतन कुमारी (शोधार्थी)

हिन्दी विभाग

वनस्थली विद्यापीठ,

राजस्थान, भारत

शोध संक्षेप

दलित शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाता है, जो समाज व्यवस्था के तहत सबसे निचले पायदान पर होता है। वर्ण व्यवस्था ने जिसे अछूत की श्रेणी में रखा, उसका दलन व शोषण हुआ। चूंकि समाज का यह वर्ग सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ा होने के कारण सदियों से घृणा व शोषण का शिकार होता रहा है। इस वर्ग को शिक्षा प्राप्त करने, तालाबों व कुओं से पानी भरने, मंदिर में जाने आदि स्थानों में प्रवेश करने में लंबे समय तक वंचित रखा गया। वर्तमान में इन्हीं जातियों को अनुसूचित जाति का नाम दिया गया। दलित साहित्य इन जातियों के उत्थान एवं विकास में कारगर सिद्ध हुआ। प्रस्तुत शोध पत्र में दलित आत्मकथाओं में वर्णित भारतीय समाज की विसंगतियों को उजागर किया गया है।

दलित शब्द से आशय

‘दलित’ शब्द साहित्य के साथ जुड़कर एक ऐसी साहित्यिक धारा की और इंगित करता है जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति है।” दलित साहित्य भोगा हुआ यथार्थ है। एक दलित ने अपने जीवन संघर्ष में जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उसी की अभिव्यक्ति का माध्यम है। समाज में व्याप्त संकीर्णता और विसंगतियों से मानव को मुक्त कराना एवं पीड़ित मानवता को सम्मानीय जीवन प्रदान करना ही दलित साहित्य का एकमात्र उद्देश्य है। “यह साहित्य दुखों, वेदनाओं और संघर्षों तक ही सीमित नहीं है। उसमें परिवर्तन की अटूट आस्था है और जीवन के उदात्त भावों जैसे प्रेम, भाईचारा आदि का भी संदेश भी है, जो समस्त मानव जाति को एक माला में पिरोकर रखना चाहता है।”

दलित साहित्य की शुरुआत सर्वप्रथम मराठी साहित्य में हुई। सातवें दशक में दलितों के उत्थान के लिए वहाँ के दलित कवियों ने एक जन आंदोलन आरंभ किया था जिसे ‘दलित

पैंथर्स’ का नाम दिया गया। ये कवि थे जिन्होंने अपना जीवन झुग्गी झोपड़ियों में व्यतीत किया था। इनका मानना था कि आजादी मिलने के पश्चात् भी दलितों को वह सम्मान नहीं मिला जिसकी डॉ.अम्बेडकर ने अपेक्षा की थी। फलतः आज भी इन लोगों को अन्याय व अत्याचार का सामना करना पड़ रहा है।

दलित अस्मिता पर विचार करते हुए सबसे पहले सवाल यह उठता है कि व्यक्ति स्वयं को जाने। यदि व्यक्ति को अपनी अस्मिता का बोध ही नहीं होगा तो उसे अपनी अस्मिता को खोने और होने दोनों का अहसास ही नहीं होगा। इस सम्बन्ध में प्रवेश कुमार कहते हैं “पहचान का अर्थ है व्यक्ति क्या है ? से है, पहचान में कौन हूँ को स्पष्ट करती है। पहचान व्यक्ति को सामाजिक दायरे में दखल प्रदान करती है पहचान व्यक्ति की विशिष्टताओं के आधार पर उसकी अन्यों से भिन्नता और समानता को जानने का एक तकाजा है। पहचान किसी व्यक्ति और समुदाय को भिन्न विशिष्टताओं के आधार पर अन्य से अलग करती है। पहचान बनाने की

कोशिश इसी प्रश्न से शुरू होती है। जब एक व्यक्ति सोचता है कि मैं कौन हूँ तो उसका हल तलाशने के लिए वह तमाम कोशिश करता है और तब कुछ न कुछ विशिष्टताओं को जो अन्यो से अलग हो, उनको खोज ही लेता है। इन्हीं विशिष्ट पहचान के आधार पर पहचान की राजनीति की शुरुआत होती है जैसे जाति, धर्म, लिंग, समुदाय व्यवसाय आदि सभी व्यक्ति की एक अपनी निजी पहचान को निर्मित करते हैं। पहचान लामबन्दीकरण का एक कारगर शस्त्र है। जिसके माध्यम से समान अस्मिता से जुड़े लोक एकत्रित हो जाते हैं।” नवें दशक में दलित साहित्य की अनेक विधाएं सामने आयीं। इन विधाओं में दलित आत्मकथाओं ने दलित साहित्य को एक पहचान दी। आत्मकथा विधा के कारण ही दलितों का यथार्थ वास्तविक रूप में अंकित हुआ। दलित आत्मकथाओं में लेखकों ने अपने समाज की यातनाओं, पीड़ाओं व शोषण की विभीषिका का तीखा और यथार्थ चित्रण किया है। डॉ. विमल थोरात ने लिखा है “दलित आत्मकथाएं आज दलित समुदाय के विभिन्न आयामों को अपने अन्दर समेट कर शोषण के उस हर एक पहलू की एक समाजशास्त्रीय चिकित्सक की दृष्टि से चीरफाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और उसके अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल करता हुआ दिखाई पड़ता है।”

दलित आत्मकथाओं में अस्मिता का संघर्ष दलित आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से दलित समुदाय की गरीबी, गुलामी और यातना की दिल दहलाने वाली जो तस्वीरें प्रस्तुत की हैं, वे वास्तव में सराहनीय हैं। कौशल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ में अपने जीवन के यथार्थ को शिक्षकों के क्रूर व्यवहार को और सामाजिक जातिय अत्याचारों को उजागर करते हुए लिखती हैं, “जब मैंने कन्या पाठशाला में पांचवी कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फीस ज्यादा थी, एक रुपये

बारह आने। बच्चों की फीस देना माँ-बाप के सामर्थ्य के बाहर थी। बाबा ने हैडमिस्ट्रेस से बड़ी विनती की कि वे फीस नहीं दे सकते। बहुत मुश्किल से वह मान गई और कहा पढ़ाई अच्छी न करने पर निकाल देंगी। बाबा ने हैडमिस्ट्रेस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से क्योंकि वे अछूत थे स्पर्श नहीं कर सकते थे।”

ब्राह्मणवादी मानसिकता, शिक्षकों के मन में इस प्रकार से रच-बस गई की जिस प्रकार सवर्णों के मन में दलितों के प्रति जो घृणापूर्ण धारणाएं व व्यवहार है ठीक यही स्थिति शिक्षकों की है। वह शिक्षक होते हुए भी दलितों के साथ घृणित व्यवहार करते थे अर्थात् शिक्षक समुदाय जाति भेद की पूर्वाग्रही भावना से ग्रस्त हैं। ‘अक्करमाशी’ में शरण कुमार लिम्बाले ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है “हम महार जाति के थे इसलिए प्रति शनिवार पूरे स्कूल की जमीन को गोबर से लीपने का कार्य हमें दिया जाता था। गोबर इकट्ठा करके पूरा स्कूल लीपने के बाद शिक्षक मेरी सराहना करते। घर पर मैं किसी प्रकार का काम नहीं करता था पर स्कूल का यह काम मुझे चुपचाप करना पड़ता था।” इस प्रकार शिक्षक का यह व्यवहार शिक्षक पद की गरिमा के एकदम विपरीत है।

वहीं सूरजपाल चैहान ने आत्मकथा ‘तिरस्कृत’ में संस्कृत के अध्यापक वेदपाल शर्मा के विषय में लिखा है कि वह शिक्षक होते हुए भी जाति का ओछापन किस तरह याद दिलाते रहते थे एक दिन सूरजपाल की ओर संकेत करते हुए कहा था “यदि देश के सारे चूहडे चमार पढ़ लिख गए तो गली मौहल्लों की सफाई और जूते बनाने का कार्य कौन करेगा।”

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षक चाहे शहर का हो या गाँव का लेकिन उसकी सोच विकृत सवर्णवादी मानसिकता से पूरी तरह से ग्रस्त है। बस अंतर इतना है कि एक ओर शहर का शिक्षक दलितों को गली-मोहल्लों की सफाई



और जूते बनाने के लिए अनपढ़ रखना चाहता है वहीं दूसरी ओर गाँव का शिक्षक गाँव से जुड़े कार्यों को करने के लिए।

डॉ.शयौराज सिंह बैचन अपनी आत्मकथा 'चमार' में दलितों के साथ सवर्णों का जो व्यवहार रहा, उसके विषय में लिखते हैं “धन्य है मेरा देश भारत। किस वर्ग से बढ़कर है यह देश जहाँ मेरी माँ-बहनों की तुलना पशुओं से की जाती है और उनसे पशु जैसा आचरण किया जाता है। . सदियों से सब्र के पत्थर फेंके जाते रहे हैं हमारी ओर, हम उनके सेवक जो ठहरे, तो आज मैं इन्हें वापस करता हूँ। स्वीकार हो हुआ। दलित लौटाना चाहता है आपको आपकी भाषा, आपका व्यवहार।” स्पष्ट है कि लेखक के मन में व्यवस्था के प्रति आक्रोश है।

वहीं दूसरी ओर नैमिशराय जी ने अपनी आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में लिखा है कि उन्हें इस बात पर गर्व है कि वे ऐसे समुदाय से ताल्लुक नहीं रखते जिसने शोषण किया, निर्दोषों को सताया और धर्म के नाम पर अमानवीय परम्पराओं को वैधता प्रदान की। वे लिखते हैं “हम गरीब जरूर थे पर हमने न देश बेचा था न अपना जमीर। न हम डंडीमार थे और न ही सूदखोर। चोर लूटों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। हमारे पुरखों ने घर बनाए, शहर बनाए पर न हमारे पास ढंग के घर थे और न बस्तियां। शहरों के भीतर कल्पना करना हमारे लिए मुश्किल था। शहर दर शहर और उनके आस-पास छितरे हमारी जात के लोगों की यही दास्तान थी। . पर सवर्णों की तरह हमने न मुगलों से समझौता किया न ही अंग्रेजों से सौदेबाजी की।”

गरीबी, बेरोजगारी और अर्थाभाव के कारण अर्थी पर फेंके जाने वाले पैसों को इकट्ठा करने में दलितों को कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी। मोहनदास नैमिशराय ने यह सब दरिद्रता के कारण किया “अर्थी के ऊपर फेंके गये पैसे उठाने के लिए बा और ताई ने कभी मना नहीं किया

था।” अपनी आत्मकथा की भूमिका में वे लिखते हैं व्यक्ति हो या समाज उसे अपने अधिकार स्वयं ही लेने होते हैं। बैसाखियों पर जीवन नहीं चलता। चलेगा भी कितने दिन .।”

समाज में व्यक्ति की हैसियत व दर्जा जाति के आधार पर तय किया जाता है जातिवादी समाज में सर्वप्रथम व्यक्ति की जाति के बारे में जानने की जिज्ञासा रहती है और जाति के आधार पर ही संवाद की स्थिति तय की जाती है अर्थात् संवाद का आधार जातिगत है। सवर्णों की दलितों के प्रति घृणा दो तरह की है जाति पता चलने पर या तो वे संवाद नकारना ही ठीक समझते हैं या फिर उनके लिए गालियाँ उनके मुंह से फूटने लगती हैं। इस अपमान से बचने के लिए दलित अपनी जाति छुपाने लगता है।

प्रकृति के पश्चात् मनुष्य की दूसरी पाठशाला उसका सामाजिक परिवेश होता है, लेकिन भारतीय सामाजिक व्यवस्था जाति-व्यवस्था पर आधारित है। दलित लेखकों ने संपूर्ण व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया। इस आक्रोश का कारण समाज में व्यवस्थित व्यवस्था है, जन्म से पहले ही जिस समाज में जाति निर्धारित कर दी जाती है व अछूत का लेबल माथे पर चिपका दिया जाता है ऐसे कुंठित समाज में किसी भी मनुष्य का छटपटाना सामान्य है। जाति व अस्पृश्यता का सहारा लेकर सवर्णों द्वारा दलित समाज को नियंत्रित किया जाता है। जो दर्जा समाज में दलितों के लिए निर्धारित था, वही दर्जा स्कूल में भी लागू होता है। विडंबनापूर्ण स्थिति तब होती है जब 'अक्करमाशी' में लिम्बाले ने दिखाया है - “बनियों और ब्राह्मणों के लड़के कबड्डी खेल रहे थे। हम अछूत बच्चे उनसे अलग थलग ही बैठे थे ..दलितों का खेल अलग। दो-दो खेल दो-दो आँधियों की तरह।” इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिन शिक्षण संस्थाओं का कार्य विषमता को समाप्त करा तथा बराबरी का अहसास पैदा करना है लेकिन यही गैर बराबरी

और विषमता की भावना को बढ़ावा दे रहे हैं तो इससे बड़ी समाज की विडंबनापूर्ण स्थिति क्या होगी ?

‘जूठन’ की भूमिका में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है “दलित जीवन की पीड़ाएं अहसनीय और अनुभव दग्ध है। ऐसे अनुभव, जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज व्यवस्था में हमने सांसे ली है, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी . . .इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। . . ‘स्वयं’ को परत दर परत उघाड़ते हुए कई बार लगा कितना दुखदायी है यह सब।” जूठन में वाल्मीकि ने हिन्दू समाज की विकृतियों का पर्दाफाश किया है। वर्ण व्यवस्था ने दलितों को ऐसे घाव दिये हैं जो असहनीय है। ‘जूठन’ में गाँव के भीतरी जीवन की तस्वीर दिखाते हैं। “अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को छूना बुरा नहीं था, लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे काम पूरा होते ही उपयोग खत्म, इस्तेमाल करो, दूर फेंको।”

दलित आत्मकथा दलित के जीवन का अतीत और वर्तमान के संदर्भ में एक ऐसा प्रयास है जिसमें लेखक अपने जीवन को नहीं, अपने चारों तरफ फैले समाज को भी समझता है। वस्तुतः दलित आत्मकथा आत्मपहचान का संघर्ष है, जिसके साथ एक दमनात्मक समाज भी उद्घाटित होता है।

दलितोत्थान की समाज में चाहे कितनी ही बड़ी बातें की जाए किन्तु इस जाति का सच ज्यों का त्यों रहता है। सूरजपाल चौहान बेशक एक अधिकारी है और अन्य दलितों की अपेक्षा उनकी स्थिति ठीक है, लेकिन गाँव के सवर्णों के लिए उनकी पहचान आज भी एक भंगी के रूप में ही है। यह कड़वा सच तब सामने आता है जब सूरजपाल अपनी पत्नी व बच्चों को लेकर गाँव

जाते हैं। रास्ते में जब जमींदार से पीने हेतु पानी मांगते हैं तो जाति जात होते ही उसके हाव-भाव बदल जाते हैं और दांत पीसते हुए कहता है “अरे भंगनिया नेक पीछे कू हट कर पानी पी, यह शहर न है गाँव है। मारे लाठिया के कमर तोड़ दी जाएगी . . .भंगिया और चमड़ा के सहर (शहर) में जाके नए-नए लत्ता (कपड़े) पहन के गाँव में आ जात है, कुछ पत्तों न चलतु कि जे भंगिया के है कि नाया।”

अपनी आजीविका के लिए लिम्बाले ने परिस्थितियों वश, शराब का व्यापार तक किया। बस स्टैंड के पास तीन पत्थरों का चूल्हा, फेंकी हुई पत्तियों की चाय के रूप में उपयोग, धूप से पिघली हुई गुड़ को खुरच-खुरच कर शक्कर के रूप में प्रयोग करना, चाय के लिए दादा का हमाली करना तथा लिम्बाले का पेपर बेचना आदि कार्य किए वही अपनी आजीविका व जीवनोपार्जन के लिए लेखक ने हर संभव कार्य किये। लेखक के शब्दों में “पेट की आग बुझाने के लिए हम लोग नदी, नालों के किनारे घूमते केकड़े पकड़ते। मछलियों को पकड़ते मधुमक्खियों के छत्ते निकालते, बगुलों को पकड़ते, खरगोश का शिकार करते, गिलेलो से चीलों को गिराते, गिलहरियों को भूनकर खाते .मूंगफलियों की चोरी करते, चोरी की मूंगफलियों को बेचते।” यही नहीं सुअर को पकड़ना तथा भून कर उसका मांस खाना लेख की विवशता थी। यहाँ तक कि केले बेचना रद्दी के टुकड़े आदि को बेचना जैसे कार्य लिम्बाले जी ने किये।

समाज में प्रथाओं को तोड़कर ही दलित समाज में बराबरी के व्यवहार की अपेक्षा कर सकता है, साथ ही बराबरी के व्यवहार की भावना के कारण उसमें आत्मसमान की भावना जागेगी। लेखक सूरजपाल चौहान के अंदर भी आत्मसम्मान कूट-कूट कर भरा है। आशा रानी व्होरा का आक्रोश भरे शब्दों में चाय पीने को मना करते हैं और अपनी प्रतिष्ठा को मद्देनजर रखते हुए कहते हैं



“नहीं पीनी मैंने तुम्हारी चाय, तुम्हारे इस एक कप चाय में करोड़ों दलितों का अपमान भरा पड़ा है। अपमान के घूँट बार-बार पीने की आदत में भूल चुका हूँ।” आत्मकथा की भूमिका में लेखक ने लिखा है “मेरा इस आत्मकथा को लिखने का उद्देश्य भी यही है कि समस्त समाज के लोग इसे पढ़ें और अपने इर्द-गिर्द बने साजिश के जाल को समझें। यदि इस पुस्तक से भारतीय समाज के लोगों को जोड़ने वाली रस्सी का कोई छोटा धागा भी बन सका तो मैं इसे सार्थक समझूँगा।” अतः दलित साहित्य के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि आत्मकथाकारों की आत्मकथाएं गाँव के बाहर की नरकमय जिंदगी का भयानक रूप स्पष्ट करती हैं। आत्मकथाकारों की आत्मकथाएं दलित समाज के दुःख दर्द को व्यक्त करती हैं कि आत्मकथाकारों के अतीत में कोई सुखद याद नहीं है, बचपन से लेकर जवानी तक दरिद्रता, गंदगी, अपमान व जातिगत पीड़ा की मार से ग्रसित रहते हैं।

दलित साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि इनके माध्यम से प्रत्येक लेखक यही संदेश देना चाहते हैं कि दलित आत्मकथाओं के मूल में समाज का दुःख दर्द है, तो साथ ही साथ समाज अब धीरे-धीरे जाग्रत हो रहा है, अपने आप को पहचान कर प्रगति के पथ पर अग्रसरित हो रहा है। समाज में आज भी दलितों पर अत्याचार का सिलसिला थमा नहीं है। फिर भी हम कह सकते हैं कि जो सैकड़ों साल से सिर्फ केवल सुन रहे थे, उन्होंने अब बोलना शुरू किया है और जो सैकड़ों साल से सिर्फ बोल रहे थे, वे अब सुनना सीख रहे हैं।

निष्कर्ष

उक्त अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था ने दलित समाज को समस्त अधिकारों से हजारों वर्षों तक वंचित रखा। आत्मकथाओं में लेखकों ने समूची व्यवस्था के प्रति दलित समाज को दूररत करने का कार्य कर

रहे हैं अर्थात् दलितों को सचेत करते हुए संघर्षरत होने का आह्वान भी दलित लेखकों ने किया। वही समूची शिक्षा तंत्र के प्रति अपना आक्रोश दिखाते हुए दलितों ने शिक्षा के महत्व को रेखांकित किया। इस प्रकार दलित आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से जहां दलितों की सभी समस्याओं को समस्त समाज से परिचित कराया है साथ ही व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है वहीं दलितों के उत्थान एवं विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

संदर्भ ग्रन्थ

- 1 दलित चिन्तन, 2011, डॉ. प्रकाश कुमार, पृ.सं. 40
- 2 वही, पृ.सं. 41
- 3 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं. 40-41
- 4 दलित साहित्य में विविध विधाएँ, माता प्रसाद, पृ.सं. 56
- 5 दोहरा अभिशाप, कौशल्या बैसंत्री, पृ.सं. 21
- 6 अक्करमाशी, शरण कुमार लिम्बाले, पृ.सं. 61
- 7 तिरस्कृत, सूरजपाल चौहान, पृ.सं. 58
- 8 चमार, श्यामराज सिंह, बैचन, पृ.सं. 44
- 9 अपने-अपने पिंजरे, मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं. 12
- 10 वही, पृ.सं. 12-13
- 11 वही, पृ.सं. 12-13
- 12 अक्करमाशी, शरण कुमार लिम्बाले, पृ.सं. 48
- 13 जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं. 32
- 14 वही, पृ.सं. 32
- 15 तिरस्कृत, सूरजपाल चौहान, पृ.सं. 45
- 16 अक्करमाशी, शरण कुमार लिम्बाले, पृ.सं. 28
- 17 तिरस्कृत, सूरजपाल चौहान, पृ.सं. 51